

# ड

## डायग्लॉसिया

(Diglossia)

डायग्लॉसिया का मतलब है भाषा-द्वैत। आम तौर पर किसी एक स्पीच कम्युनिटी में एक से अधिक भाषाएँ या किसी एक भाषा की अलग-अलग लगने वाली क्रिस्में इस्तेमाल होती हैं। जब उस स्पीच कम्युनिटी के भीतर इन भाषाओं द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य अलग-अलग निर्धारित कर दिये जाते हैं तो उसे डायग्लॉसिया की स्थिति कहा जाता है। मसलन, किसी एक भाषा का एक रूप साहित्यिक क्रार दे दिया जाता है, और दूसरे रूप को वह दर्जा नहीं मिलता तो वहाँ भाषा-द्वैत की स्थिति बन जाती है। उदाहरण के तौर पर उन्नीसवीं सदी में खड़ी बोली हिंदी को कविता लिखने लायक भाषा नहीं समझा जाता था। वह केवल गद्य की भाषा थी। खुद भारतेंदु हरिश्चंद्र गद्य तो हिंदी में लिखते थे, पर उनकी कविताएँ ब्रज में होती थीं। आम तौर पर मान्यता थी कि ब्रज में जो काव्यात्मक लास्य है वह हिंदी में नहीं मिलता। हिंदी में कविता लिखना तो काफ़ी बाद में शुरू हुआ जब अयोध्या प्रसाद खत्री ने खड़ी बोली में पद्य रचने का आंदोलन चलाया। यह भाषा-द्वैत किसी भाषा या उसके रूप को श्रेष्ठतर और किसी दूसरे रूप को निम्नतर क्रार देने की हद तक भी जा सकता है। ऐसी स्थिति में डायग्लॉसिया प्रभु भाषा द्वारा मातहत भाषा के सांस्कृतिक उत्पीड़न का जरिया हो सकता है। अगर हिंदी, हिंदुस्तानी, उर्दू और पंजाबी बोलने वाले क्षेत्र को एक विशालकाय स्पीच कम्युनिटी माना लिया जाए तो कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में अंग्रेज़ी की उपस्थिति एक प्रभु भाषा के तौर पर है जिससे बाक़ी सभी भाषाओं का

लगातार सांस्कृतिक उत्पीड़न होता रहता है। इसी तरह जब एक ही भाषा के दो या दो से अधिक रूप कुछ व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में इस्तेमाल किये जाते हैं तो भी डायग्लॉसिया की परिस्थिति पैदा होती है। लिखित व्याकरण सम्मत भाषा को बेहतर और बोली को कमतर मानना भी एक डायग्लॉसिकल रवैया है।

डायग्लॉसिया शब्द फ़्रांसीसी भाषा के 'डियग्लोसी' शब्द से बना है। सबसे पहले 1959 में चार्ल्स फ़र्ग्युसन ने इस शब्द का प्रयोग बोली-विज्ञान से संबंधित अपने लेख में किया था। फ़र्ग्युसन के अनुसार 'डायग्लॉसिया किसी भाषा के किसी खास स्तर पर विकसित नहीं होता। यह कई स्रोतों से एवं कई भाषागत परिस्थितियों के कारण विकसित हो जाता है'। डायग्लॉसिया एक ऐसा भाषागत रवैया है जो शीघ्र परिवर्तित नहीं होता। कभी-कभी तो वह कई शताब्दियों तक ज़िंदा रहता है। डायग्लॉसिया का जन्म मुख्य तौर से तीन परिस्थितियों में होता है। पहला, विपुल साहित्य से जुड़ी हुई एक भाषा जो समुदाय की प्राकृतिक भाषा के अत्यधिक निकट हो और स्रोत के रूप में या समुदाय के कुछ मौलिक मूल्यों को सुदृढ़ करने के लिए विकसित हो जाये। इस परिस्थिति में भाषा-द्वैत पैदा हो सकता है। दूसरा, अगर किसी समुदाय में साक्षरता केवल विशिष्टजन तक ही सीमित होगी और अधिकांश लोग निरक्षर होंगे, तो वहाँ भी भाषा-द्वैत पैदा होगा। तीसरे, पहली एवं दूसरी स्थिति प्राप्त करने में बीतने वाली अवधि जो कई शताब्दियों की भी हो सकती है। डायग्लॉसिया की स्थिति तभी तक विद्यमान रहती है जब तक विभिन्न क्षेत्रीय एवं सामाजिक वर्गों में साक्षरता एवं सम्प्रेषण-क्षमता की कमी होती है और जब तक उस समाज के लोगों की इच्छा भाषा से संबंधित स्वायत्तता तथा स्वतंत्रता प्राप्त करके किसी राष्ट्रीय भाषा के निर्माण की नहीं हो जाती।

फ़र्ग्युसन ने डायग्लॉसिया की परिभाषा इस प्रकार दी है : 'डायग्लॉसिया भाषा की अपेक्षाकृत वह स्थायी स्थिति है जिसमें भाषा अपनी प्रारम्भिक बोली के अतिरिक्त विभिन्नता, सुव्यवस्था (प्रायः व्याकरणिक दृष्टि से अधिक संक्षिप्त) एवं विविधतायुक्त होती है तथा लिखित भाषा के सम्मानित स्वरूप की प्रारम्भिक अवधि किसी दूसरे भाषा-समुदाय का माध्यम होती है जो विधिवत (औपचारिक) शिक्षा द्वारा सीखी जाती है। यह अधिकांशतः लिखने व बोलने के उद्देश्य से प्रयुक्त की जाती है। लेकिन यह भाषा किसी समुदाय के विशेष वर्ग द्वारा साधारण बातचीत में प्रयुक्त नहीं होती। जैसे इतालवी या फ़ारसी में बहुत से लोग घर, परिवार या मित्रों के बीच में स्थानीय बोली का प्रयोग करते हैं।' हिंदी में यह स्थिति इसकी सभी बोलियों में मिलती है। जैसे मथुरा का ब्रजवासी किसी दूसरे ब्रजवासी से ब्रज में बोलना पसन्द करता है, जब कि अवधी या भोजपुरीभाषी से वह मानक हिन्दी में ही बोलेंगा।

एक साथ एक ही भाषा के दो उपरूपों का प्रयोग किसी भी पूरी जनजाति में चलता है। मानक भाषा के रूप भी इसके साथ-साथ चलते हैं। फ़र्ग्युसन ने इसके लिए अरबी, आधुनिक ग्रीक, जर्मन, हैतियन क्रिओल आदि भाषाओं का उदाहरण दिया। चूँकि यह प्रवृत्ति पृथक-पृथक परिस्थितियों में विकसित होती है इसीलिए इसे किसी एक सर्वमान्य सिद्धांत के अंतर्गत सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता।

भाषा विज्ञान परिभाषा क्रोश के अनुसार, 'किसी भाषायी समाज में जब विभिन्न परिस्थितियों में एक ही भाषा के दो भिन्न रूपों का प्रयोग होता है तो ऐसी स्थिति भाषा-द्वैत (डायग्लॉसिया) कहलाती है। दोनों रूपों का भिन्न-भिन्न सामाजिक कार्य होता है। यहाँ एक रूप (उच्च कोड) शिक्षा, राजनीति, साहित्यिक परिचर्चा इत्यादि में प्रयुक्त होता है, वहीं दूसरा रूप (निम्न कोड) अनौपचारिक बोलचाल की परिस्थितियों तक ही सीमित रहता है, किंतु दोनों ही रूप एक सीमा तक मानक रूप होते हैं। वक्ता प्रायः दोनों को विशिष्ट मान देता है उच्चबोली और निम्नबोली के रूप में। भाषा-द्वैत की यह स्थिति संसार के कई भाषा-परिवारों में पायी जाती है— जैसे अरबी, ग्रीक, जर्मनी इत्यादि विदेशी भाषाओं में तथा तमिल, तेलगू और बंगला इत्यादि भारतीय भाषाओं में। तमिल भाषा में भी दो रूप प्रचलित हैं : ग्रंथिका और व्यवहारिका। बांग्ला भाषा में भी दो रूप मिलते हैं : साधु भाषा और चलित भाषा।'

इस परिभाषा के मुताबिक भाषा के ये दोनों रूप प्रयोग की दृष्टि से परस्पर परिपूरक हैं। यानी एक ही व्यक्ति जीवन के कुछ संदर्भों में एक रूप का प्रयोग करता है और अन्य संदर्भों में दूसरे रूप का। इसे उच्च कोड और निम्न कोड की संज्ञा दी गयी है। उच्च कोड का प्रयोग सामान्य परिस्थितियों

में किया जाता है। चर्च, व्यक्तिगत पत्र, संसद में राजनीतिक भाषण, विश्वविद्यालयों में पठन-पाठन के माध्यम, रेडियो से प्रसारण, समाचार पत्रों में विशेष रूप से सम्पादकीय, काव्य के माध्यम तथा अन्य रूपों में उच्च कोड का तथा कार्यालयों में कर्मचारियों, होटलों में बेयरों, परिवार के सदस्यों, मित्रों, साथियों के मध्य बातचीत में निम्न कोड का प्रयोग होता है।

ज़ाहिर है कि उच्च कोड सुसंस्कारित माना जाता है जिसका प्रयोग समाज का उच्च शिक्षित वर्ग प्रतिष्ठामूलक संदर्भों में करता है। उच्च कोड का ज्ञान व्यक्ति की प्रतिष्ठा में वृद्धि करता है जब कि निम्न कोड को कम प्रतिष्ठित माना जाता है। किसी भाषा के उच्च कोड के साहित्य का लेखन प्रायः उच्च कोड में किया जाता है। निम्न कोड में प्रायः उसके लोक-साहित्य की ही रचनायें मिलती हैं। निम्न कोड प्रायः मातृभाषा होती है। इसलिए निम्न कोड को मातृभाषा के रूप में सीखा जाता है जब कि उच्च कोड को बाद में अर्जित किया जाता है। मानकीकरण प्रायः उच्च कोड का ही किया जाता है। उच्च कोड के व्याकरण लिखे जाते हैं। शब्दकोश आदि का निर्माण होता है। पाठ्य-पुस्तकें प्रायः उच्च कोड में ही मिलती हैं जब कि निम्न कोड में लेखन का अभाव होता है। उच्च कोड में लिखित साहित्य होने से स्थायित्व होता है, जब कि निम्न कोड में अलिखित होने के कारण भाषा परिवर्तित होती रहती है।

देखें : अर्थ-विज्ञान, नोआम चोमस्की, परस्पर विपरीत द्विभाजन, फर्दिनेद द सॅस्यूर, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा, लक्षण-विज्ञान, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, सम्पर्क-भाषा : हिंदी/अंग्रेज़ी-1 से 4 तक।

### संदर्भ

1. चार्ल्स ए. फ़र्ग्युसन (1959), 'डायग्लॉसिया', *वर्ड*, अंक 15, पुनर्मुद्रित पिएक पाउलो गिग्लियोली (सम्पा.) (1972), *लेंगेज ऐंड सोशल कांटेक्ट*, पेंगुइन, लंदन.
2. जेनेट होम्स (1992), *एन इंट्रोडक्शन टू सोसियोलिंग्विस्टिक्स*, लॉगमेन, लंदन.
3. पीटर स्टॉकवेल (2002), *सोसियोलिंग्विस्टिक्स : अ रिसोर्सबुक फॉर स्टुडेंट्स*, रॉटलेज, लंदन.

— श्यामा सिंह

## डायसपोरा

(Diaspora)

यूनानी भाषा में डायसपोरा का मतलब है छितरा हुआ। किसी एक राष्ट्रीय या जातीय अस्मिता से सम्पन्न लोगों का समूह जब अपनी मूल ज़मीन से दूर किसी दूसरे भूगोल का स्थायी रूप से वासी बनता है तो उसके लिए डायसपोरा की संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। सबसे पहले इस अभिव्यक्ति का इस्तेमाल ईसा से 607 साल पहले बेबीलोनियों द्वारा फ़िलिस्तीन से और रोमनों द्वारा जूडिया से यहूदियों के निष्कासन के लिए किया गया था। इसके बाद काफ़ी समय तक डायसपोरा का व्यावहारिक मतलब यहूदी समाज से संबंधित अध्ययनों तक ही सीमित रहा। ज़्यादा से ज़्यादा इसका विस्तार अगर कभी होता था तो अमेरिकी समाज में आ बसने वाले आप्रवासियों की चर्चा भी इसमें शामिल हो जाती थी। लेकिन, आजकल समाज-विज्ञान में इसका प्रयोग चीनियों, कोरियाइयों, लातीनियों और भारतीयों की विशाल आबादियों के लिए किया जाता है जो अपने गृह-देशों से दूर दूसरी संस्कृतियों और सभ्यताओं के बीच रह रही हैं। डायसपोरा अध्ययनों में विद्वानों का जोर यह पता लगाने पर रहता है कि अपनी ज़मीन से लम्बी अवधि तक दूर रहने के बावजूद इन आबादियों में सांस्कृतिक निरंतरता के कौन-कौन से तत्त्व मौजूद हैं, और उन्होंने अपनी रिहाइश वाली धरती के साथ कैसा रिश्ता क़ायम किया है। इस प्रक्रिया में डायसपोरा समाज काफ़ी-कुछ खोता और पाता है। चूँकि उनके हितों की संरचना स्थानीय मूल वासियों के हितों से अलग होती है, इसलिए उनकी राजनीति भी अध्येताओं के लिए विशेष आकर्षण का केंद्र है। ख़ास बात यह है कि डायसपोरा की राजनीति दोनों तरफ़ अपना असर छोड़ती है। वह न केवल अपनी रिहाइश वाले देश को प्रभावित करती है, बल्कि अपने गृह-देश की राजनीति में भी अलग-अलग ढंग से हस्तक्षेप करती है।

बड़े-बड़े जातीय समूहों द्वारा अपना वतन छोड़ कर हज़ारों मील दूर अजनबी प्रदेशों में बसने के पीछे या तो मजाबूरियों की भूमिका रही है या तिजारत और उपनिवेश बसाने की गतिविधियाँ रही हैं। युरोपियन डायसपोरा की शुरुआत यूनानियों द्वारा क़रीब चार सौ उपनिवेश बसाने के साथ जोड़ कर देखी जाती है। समझा जाता है कि यूनानी लोग कुछ-कुछ स्वेच्छा से और कुछ-कुछ वक्रत के प्रवाह में बह कर इन उपनिवेशों में रहने के लिए आये होंगे जिससे यूनानी सभ्यता और संस्कृति का दूर-दूर तक प्रसार हुआ। पंद्रहवीं से उन्नीसवीं सदी के बीच लाखों-लाख युरोपीय लोग अमेरिकी महाद्वीप में रहने के लिए गये ताकि उन क्षेत्रों की प्राकृतिक

सम्पदा, सस्ते श्रम और उर्वर धरती का ज़्यादा से ज़्यादा दोहन किया जा सके। दूसरी तरफ़ उन्नीसवीं सदी में आयरलैण्ड के भीषण अकाल के कारण वहाँ की 45 से 85 फ़ीसदी के बीच आबादी ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, अर्जेंटीना, ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड में बसने के लिए चली गयी थी। अंग्रेज़ी भाषा में डायसपोरा शब्द का चलन इसी परिघटना का परिणाम है।

आधुनिकता से पहले की अवधि का सबसे बड़ा डायसपोरा अफ़्रीकियों को माना जाता है। इसकी शुरुआत सोलहवीं सदी से हुई जब अटलांटिक के आर-पार होने वाले दास-व्यापार के माध्यम से क़रीब सवा करोड़ अफ़्रीकी पश्चिमी दुनिया में पहुँचाए गये। आधुनिकता के दौर में चीनी डायसपोरा उस समय बना जब उन्नीसवीं सदी से 1949 के बीच चीन में बार-बार होने वाले युद्धों और भुखमरी के कारण चीनियों की बहुत बड़ी आबादी अपनी मातृभूमि छोड़ कर अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ़्रीका, दक्षिण-पूर्व एशिया, मलाया जैसे इलाक़ों में रहने के लिए गयी। इस डायसपोरा के ज़्यादातर सदस्य कम शिक्षित किसान और शारीरिक श्रम करके गुज़र-बसर करने वाले कुली थे।

दक्षिण-पूर्व एशिया के बाहर सबसे बड़ा डायसपोरा भारतवंशियों का है। सारी दुनिया में फैले हुए इस डायसपोरा की संख्या क़रीब ढाई करोड़ क़ती जाती है। इसके सदस्य विभिन्न धर्मों, भाषाओं, संस्कृतियों और जातीयताओं से आते हैं, पर उन्हें एक सूत्र में जोड़ने वाले मूल्यों को इनके बीच देसी या भारतीय की संज्ञा दी जाती है। उन्नीसवीं सदी के दौरान और ब्रिटिश राज के ख़ात्मे तक मॉरीशस, गुयाना, कैरिबिन द्वीपों और फ़ीजी में गिरमिटिया मज़दूरों के तौर पर ग़रीब भारतीय मज़दूरों को रबड़ और तम्बाकू के बागानों में कठोर परिश्रम करने के लिए ले जाया जाता रहा। आगे चल कर इन बँधुआ मज़दूरों ने मुक्त होने के बाद आधुनिक भारतीय डायसपोरा का आधार बनाया। यह मानना ग़लत होगा कि भारतवंशी लोग केवल इसी तरह की मजबूरियों के कारण ही डायसपोरा बने। बहुत से पढ़े-लिखे और प्रशिक्षित भारतीय ही नहीं, बेहतर आमदनी की खोज में मेहनतकश भारतीय लोग भी विदेशों में रहने गये हैं। युरोप, अमेरिका और खाड़ी के देशों में मिलने वाले ज़्यादातर भारतवंशी इसी क्रिस्म के हैं। दुनिया के कई चर्चित डायसपोरा समाजों में जिप्सियों को भी गिना जाता है।

डायसपोरिक समाज कोई एक क्रिस्म के नहीं होते। इसलिए उनकी कोई एक परिभाषा का सूत्रीकरण सम्भव नहीं है। दुनिया भर में कई तरह के डायसपोरा हैं जिनके बीच में फ़र्क़ करना ज़रूरी है। मोटे तौर पर डायसपोरा समाजों को तीन श्रेणियों में बाँट कर समझा जा सकता है। पहली श्रेणी उत्पीड़ित डायसपोरा की है जिसमें यहूदी, आर्मीनियायी, और

अफ्रीकी आते हैं। इन डायसपोरिक समाजों का इतिहास बताता है कि उन्हें या तो भीषण उत्पीड़न के कारण अपनी धरती छोड़नी पड़ी या उन्हें ज़बरन अपने गृह-देश से विस्थापित किया गया। डायसपोरा की दूसरी श्रेणी मज़दूर और साम्राज्यवादी डायसपोरा की है। इनके उदाहरण भारतीय और ब्रिटिश डायसपोरा के रूप में देखे जा सकते हैं। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के कारण स्वेच्छा से या जबरिया आबादियों का एक जगह से दूसरी जगह पर स्थानांतरण होता रहा है। तीसरी श्रेणी तिजारती डायसपोरा की है। इस श्रेणी पर कुछ विवाद भी हो सकता है। मसलन, भारत पर मुसलमान आक्रमण होने से पहले मालाबार के तट पर व्यापार के इरादे से आये अरब व्यापारियों का एक बड़ा हिस्सा वहीं बस गया। ये मोपला मुसलमान भी डायसपोरा माने जा सकते हैं या नहीं, यह अभी तय नहीं है। लेकिन, चीनी और लेबनानी डायसपोरा का एक हिस्सा निश्चित रूप से तिजारती श्रेणी में आता है।

डायसपोरा किसी भी श्रेणी के हों, वे एक समान दुविधा में रहते हैं और वह है सांस्कृतिक अस्मिता की दुविधा। डायसपोरिक समाजों में ऐसे सदस्यों की संख्या बहुत है जिन्होंने अपने गृह-देश का मुँह कभी नहीं देखा है। वह गृह-देश उनकी कल्पनाओं में बसता है और इसीलिए उनके मानस और अस्मिता पर उस काल्पनिक चित्र की छाप किसी धार्मिक मिथक के असर जैसी होती है। दूसरी तरफ़ उन्हें अपनी रिहाइश वाले समाजों के साथ अपना सांस्कृतिक समायोजन करना पड़ता है जिससे अक्सर उनकी अस्मिता के कल्पित तत्व उसके यथार्थपरक तत्वों के अंतर्विरोध में चले जाते हैं। उनकी स्थिति त्रिशंकु जैसी हो जाती है, और वे किसी निर्धारित और निश्चित राष्ट्रियता से वंचित हो कर सताये हुए मानस के शिकार हो जाते हैं।

देखें : उत्तर-औपनिवेशिकता, राष्ट्र-राज्य, संस्कृति।

## संदर्भ

1. रोबिन कोहेन (1997), *ग्लोबल डायसपोराज़ : ऐन इंट्रोडक्शन*, युनिवर्सिटी ऑफ़ वाशिंगटन प्रेस, सिएटल.
2. योसी शाइन (2007), *क्रिनिशप ऐंड डायसपोरा इन इंटरनेशनल पॉलिटिक्स*, मिशिगन युनिवर्सिटी प्रेस.
3. जी. ओक (2007), *ग्लोबल इण्डियन डायसपोरा : ट्रैजेक्टरीज़ ऑफ़ माइग्रेशन ऐंड थियरी*, एमस्टर्डम युनिवर्सिटी प्रेस.
4. जाना इवांस ब्राज़ील (2008), *डायसपोरा : ऐन इंट्रोडक्शन*, ब्लैकवेल, माल्डेन, एमए.

— अभय कुमार दुबे

## डार्विनिवाद और चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन

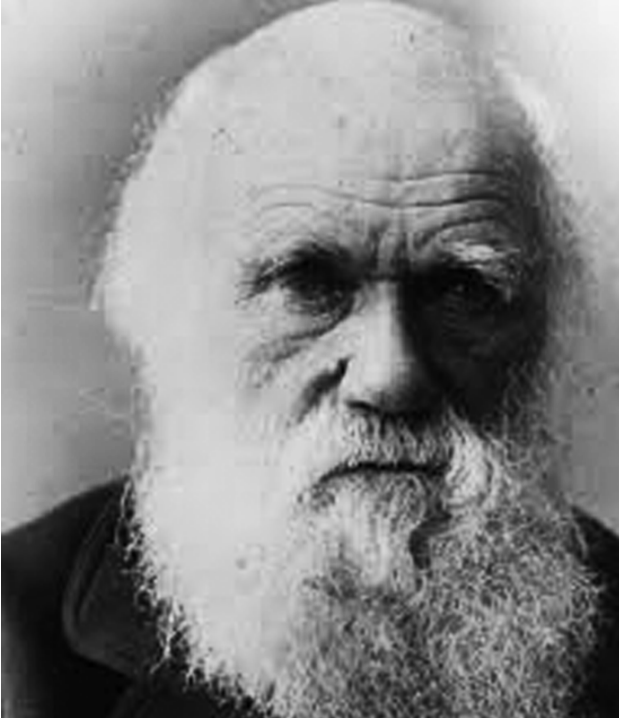
(Darwinism and Charles Robert Darwin)

डार्विनिवाद ब्रिटेन के विख्यात प्रकृति-वैज्ञानिक चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन (1809-1882) की खोजों पर आधारित है। मानव इतिहास के सबसे प्रभावशाली विचारकों में से एक डार्विन द्वारा प्रतिपादित जैविक विकासवाद, योग्यतम के जीवित रहने, प्राकृतिक वरण और साझे पूर्वज होने के सिद्धांतों ने सामाजिक विचारधाराओं, जीव-विज्ञान तथा धर्म के क्षेत्रों में खलबली मचा दी थी। इसके बावजूद विरोधाभास यह है कि डार्विनिवाद की स्थापना डार्विन द्वारा नहीं की गयी, क्योंकि उन्हें अपने अनुसंधानों के आधार पर किसी विचारधारा या वाद का शीराज़ा खड़ा करने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। डार्विन अपने निष्कर्षों के सामाजिक प्रभाव पर भी कोई टिप्पणी करने से बचते थे। दरअसल, डार्विनिवाद ऐसा पद है जो स्वयं डार्विन की स्थापनाओं से भिन्न राजनीतिक-सामाजिक अर्थों में इस्तेमाल होता रहा है। कई ढीले-ढाले वक्तव्यों, राजनीतिक पुस्तकों और लेखनों में इसका प्रयोग पूरी तरह तात्कालिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी होता है।

डार्विन ने पहली बार विस्तार से अपनी विश्व-विख्यात स्थापनाएँ 1859 में प्रकाशित कृति *ऑन द ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज* में पेश की थीं। उन्होंने बड़े पैमाने पर की गयी विभिन्न द्वीपों और सुदूर स्थलों की यात्राओं, कीड़ों व वनस्पतियों, जीवाश्म और वन्यजीवन के सूक्ष्म अध्ययन के बाद अपने निष्कर्ष निकाले थे। खासतौर पर 1831-1836 के दौरान एच.एम.एस. बीगल नामक जहाज़ पर की गयी सुदूर यात्राओं, खास कर दक्षिण अमेरिका के प्रशांत महासागरीय तट और उसके नज़दीकी सागर-द्वीपों की यात्रा ने उनके शोध और नतीजों को गहराई से प्रभावित किया। यात्रा के दौरान जीवाश्म के रूप में मिले कुछ स्तनधारी प्राणियों के संग्रह व उनके अध्ययन और इसी प्रजाति के आधुनिक प्राणियों से उनकी समानता के आधार पर उन्होंने देखा कि समय के साथ उनकी जैविक विशेषताओं और संरचना में अंतर आ गया है। डार्विन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रकृति में ऊपर से स्थिरता और सामंजस्य प्रतीत होता है, पर उसके पीछे सतत संघर्ष और विकास की प्रक्रिया चलती रहती है। यात्रा के दौरान उन्होंने गालापगोज द्वीप जाकर भी बहुत सारी शोध-सामग्री एकत्र की। फिच जैसी बड़ी चिड़ियों व विशाल कछुओं का अध्ययन के लिए खासतौर पर संग्रहण किया।

डार्विन से पहले प्रकृति और समाज-रचना के पीछे दैवी योजना के सिद्धांत का दबदबा था जिसे डार्विन की





चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन (1809-1882)

खोजों ने पूरी तरह खारिज कर दिया। डार्विन ने यह दिखाया कि प्रकृति और जीवन कितने भी जटिल क्यों न हों, उनके कारणों की खोज करके उनकी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। उन्होंने क्रम-विकास के सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसमें माना जाता है कि प्रकृति के सभी जीव-जंतुओं तथा वनस्पतियों में निरंतर परिवर्तन की धीमी प्रक्रिया चलती रहती है। अचानक किसी भिन्न प्रकार के प्राणी की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि यह बदलाव लाखों-करोड़ों वर्षों में सम्पन्न होता है। विकास के पीछे मुख्यतः प्राकृतिक वरण कार्य करता है। प्रकृति में उपस्थित करोड़ों वनस्पतियों और जीवों की प्रजातियाँ अपने समूह के अनुसार अत्यंत प्राचीन काल में एक ही जीव से विकसित हुई हैं जिसे स्पेसिएशन कहा गया है। विभिन्न प्रजातियाँ व जीव परस्पर एक जैसे नहीं होते, बल्कि उनकी जैविक विशेषताओं में अंतर पाये जाते हैं। डार्विन के अनुसार प्राकृतिक चुनाव और प्रजातियों का विकास इस पर निर्भर करता है कि उसने पर्यावरण के अनुकूल ख़ुद को किस प्रकार ढाला है। जो जीव पर्यावरण के अनुकूल स्वयं को ढाल नहीं पाते, वे धीमी गति से चलने वाली लम्बी प्रक्रिया में नष्ट हो जाते हैं।

डार्विन के अनुसार जीव-जंतुओं में अपने पुनरुत्पादन की क्षमता संततियों के जीवित रहने योग्य सम्भावनाओं की तुलना में कई गुना अधिक होती है। क्रम-विकासवाद के सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए डार्विन ने विकास को दो हिस्सों में बाँट कर देखा : भिन्नताकारी विकास और समानताकारी विकास। भिन्नताकारी विकास वह होता है

जिसमें पर्यावरण तथा आत्मरक्षा के दबाव में एक प्रजाति के जीवों में अलग-अलग जैविक लक्षण पैदा होते हैं, और समानताकारी विकास वह होता है जिसमें भिन्न प्रजाति के प्राणियों में एक जैसे लक्षण व गुण पाये जाने लगते हैं।

डार्विन ने इस दावे का खण्डन किया कि जैव-विकास किसी पूर्वनिर्धारित दिशा में होता है या इसका कोई पूर्वनिर्धारित लक्ष्य होता है। उनका मत था कि यह मात्र किसी प्रजाति से जुड़ा संयोग ही है कि उसके भीतर ख़ुद को पर्यावरण के मुताबिक ढाल पाने का गुण है या नहीं। डार्विन द्वारा प्रतिपादित योग्यतम के जीवित रहने के सिद्धांत की कई असंगत व्याख्याएं हुई हैं। इसे सर्वाधिक बलशाली, समर्थ, चतुर लोगों की अंततः विजय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पर डार्विन की प्रस्थापना इस व्याख्या से भिन्न थी। डार्विन की विकासवादी धारणा केवल इतना कहती है कि सबसे योग्य वे होते हैं जिनकी जैव-संरचना में परिवर्तन के ऐसे पूर्व लक्षण मौजूद होते हैं जो उन्हें स्वयं को अनुकूलित करने व संतति उत्पादन में सहायक होते हैं। ऐसी प्रजातियाँ व जीव सम्भव है कि ऊपरी तौर पर शक्तिशाली प्रतीत होने वाले प्राणियों के मुकाबले कम समर्थ, कमजोर व छोटे हों। यानी संयोग का तत्त्व भी अनुकूलन व प्राकृतिक वरण में बड़ी भूमिका अदा करता है।

यह भी व्यापक भ्रम है कि *ऑन द ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज* में डार्विन ने मनुष्य के विकास पर लिखा है। सच यह है कि पुस्तक मुख्य रूप से गैर-मानवीय प्रजातियों और उनके विकास के नियमों पर केंद्रित है। मानव-विकास पर डार्विन ने अपनी 1871 की पुस्तक *डिसेंट ऑफ़ मैन ऐंड सेलेक्शन इन रिलेशन टू सेक्स* में रोशनी डाली है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि 'सरवाइवल ऑफ़ द फ़िटेस्ट' की पदावली का प्रयोग डार्विन ने नहीं बल्कि विकासवादी ब्रिटिश दार्शनिक हरबर्ट स्पेंसर ने किया था। स्पेंसर ने इसका प्रयोग पूरी दुनिया में युरोपीय साम्राज्यवाद को उपयोगी तथा तर्कसंगत ठहराने के लिए किया।

डार्विन ने *ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज* के पांचवें संस्करण में इसका इस्तेमाल प्राकृतिक वरण के पर्याय के रूप में करना आरम्भ कर दिया था। डार्विन के विचारों पर ब्रिटिश अर्थशास्त्री थॉमस माल्थस की पुस्तक *एसेज़ ऑन द प्रिंसिपल ऑफ़ पॉपुलेशन* का असर था। माल्थस की प्रस्थापना थी कि मानव-जाति में वृद्धि की रफ़्तार जीवन के संसाधनों जैसे भोजन, पानी की वृद्धि की तुलना में अधिक होती है और इसीलिए मनुष्य लगातार अस्तित्व की जद्दोजहद में लगा रहता है। डार्विन के क्रम-विकासवादी सिद्धांतों पर इसका प्रभाव दिखा।

डार्विन के विचारों ने सृष्टि-रचना की धार्मिक-योजना को हिला दिया। प्राचीन ग्रंथ इस बात पर जोर देते रहे हैं कि

हर चर-अचर जीव की रचना के पीछे इश्वर का हाथ है और सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य योग्य, सुंदर और बुद्धिमान रहा है। पर डार्विन के क्रम-विकासीय सिद्धांत ने इसके विपरीत साबित किया कि जैविक संरचना निरंतर विकासमान है और वर्तमान प्रजातियाँ लाखों-करोड़ों साल पहले आज जैसी नहीं थीं। इसी तरह डार्विन द्वारा किये गये इस दावे ने भी चर्च की आस्थाओं पर आघात किया कि मनुष्य के पूर्वज वानरों जैसे थे। इसके जवाब में चर्च की ओर से भी क्रम-विकासीय धर्मशास्त्र गढ़ने की चेष्टा भी हुई जिसमें कहा गया कि ईश्वर ने ही क्रम-विकास और प्राकृतिक वरण संबंधी नियमों के माध्यम से मनुष्य-जाति का कल्याण किया है।

डार्विन के सिद्धांतों और डार्विनवाद को पिछले कुछ दशकों में नारीवादियों तथा अश्वेतों की ओर से आलोचना का सामना करना पड़ा है। नारीवादियों का आरोप है कि डार्विन ने प्राकृतिक चुनाव और क्रम-विकास के मामले में पुरुषों की जैविक-शारीरिक क्षमताओं को अधिक विकसित होते दिखाया है, जबकि स्त्रियों को उनकी तुलना में कमतर प्रदर्शित किया। 1875 यानी डार्विन के जीवनकाल में ही एंतोयनेत ब्लैकवेल नामक महिला ने *द सेक्सिज़ थ्रूआउट नेचर* नामक पुस्तक में डार्विन के पुरुषोन्मुखी क्रम-विकासवाद की तुलना में स्त्री-पुरुष की प्राकृतिक समानता के बारे में तर्क दिये थे। अश्वेतों की आलोचना यह है कि डार्विन के सिद्धांतों में बीज रूप में नस्लवाद छिपा है। खासतौर पर पुरानी जनजातियों के प्रति उनका नज़रिया तिरस्कारपूर्ण है। डार्विन ने हालाँकि दास-प्रथा का पूरी तरह खण्डन किया पर बर्बर नस्लों और सभ्य नस्लों के मध्य अंतरों को उन्होंने खास तौर पर स्थापित किया। अश्वेतों का आरोप है कि क्रम-विकासवाद बेहतर नस्ल व बेहतर मनुष्य के सिद्धांत की वकालत करता है जिसका परिणाम श्वेत नस्लों की तुलना में अश्वेतों के साथ ग़ैर-बराबरी व घृणा में व्यक्त होता है। इसने यूजेनिक्स को भी बढ़ावा दिया, जिसमें वैज्ञानिक तकनीक से जीन संबंधी दोषों वाले प्राणियों के जन्म को हतोत्साहित करने व उच्च गुणों से सम्पन्न जातियों के प्रजनन को बढ़ावा देने के दावे किये जाते हैं। ये आलोचनाएँ डार्विन के बाद विकसित विभिन्न सिद्धांतों, खासतौर पर सामाजिक डार्विनवाद, पर विशेष रूप से हमला करती हैं।

**देखें :** अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, क्रानून, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

## संदर्भ

1. चार्ल्स डार्विन, *ऑन द ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़*, जान मुरे, लंदन, 1859
2. चार्ल्स डार्विन, *ऑटोबायोग्राफी ऑफ़ चार्ल्स डार्विन*, (सम्पा. फ्रांसिस डार्विन), 1887
3. जी. रेडिक और जे. हौज (सम्पा.), *द केम्ब्रिज कम्पेनियन टू डार्विन*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 2003
4. जे. मूर और ए. डेसमण्ड, *डार्विन : द लाइफ़ ऑफ़ अ टॉरमेंटेड इवोल्यूशनिस्ट*, नार्टन, न्यूयॉर्क, 1992
5. डी. डेनेट, *डार्विन्स डेंजरस आइडिया : इवोल्यूशन ऐंड द मीनिंग ऑफ़ लाइफ़*, सिम्पसन ऐंड शस्टर, न्यूयॉर्क, 1995

— वैभव सिंह

## डिजिटल डिवाइड

(Digital divide)

डिजिटल डिवाइड का मतलब है कम्प्यूटर और इंटरनेट इस्तेमाल करने और संसाधनों की कमी के कारण न कर सकने वालों के बीच का वह अंतर जिसके कारण एक व्यक्ति, समुदाय या राष्ट्र सूचना-समृद्ध हो जाता है और दूसरा सूचना-दरिद्र रह जाता है। ग्लोबल पैमाने पर दुनिया को एक तरह के लोकतांत्रिक प्रौद्योगिकीय यूटोपिया की तरफ़ ले जाने वाली परिघटना डिजिटल डिवाइड की हक़ीक़त से सवालिया निशानों में घिर जाती है। अगर यह मान लिया जाए कि कम्प्यूटर और इंटरनेट में हाशियाग्रस्त लोगों की रोज़ाना की ज़िंदगी बेहतर बनाते हुए अधिक सामाजिक समानता और सबलीकरण की सम्भावनाएँ हैं, तो आज के सूचना-युग में डिजिटल डिवाइड एक चिंताजनक स्थिति है। इसीलिए सूचना प्रौद्योगिकी से लाभांशित हो रहे और वंचित रह जाने वालों के बीच संख्यात्मक अंतराल का मतलब केवल यह नहीं रह गया है कि लोग नेटवर्क सोसाइटी में भागीदारी कर पा रहे हैं या नहीं, बल्कि डिजिटल डिवाइड को ग़रीबी और विषमता की निरंतरता जैसी व्यापक और जटिल समस्या के लक्षण के रूप में भी देखा जाने लगा है। इस लिहाज़ से डिजिटल डिवाइड के आईने में आर्थिक-सामाजिक हैसियत, आमदनी और शिक्षा के स्तर और नस्ली मूल के आधार पर बँटी हुई दुनिया को भी देखा जा सकता है। इस डिवाइड की शिनाख़्त किसी एक समुदाय और देश के भीतर भी की जा सकती है, और इसे एक ग्लोबल परिघटना के तौर पर भी देखा जा सकता है। जब तक डिजिटल डिवाइड रहेगा, तब तक इंटरनेट को ग्लोबल, लोकतांत्रिक और डिजिटल

डिवाइड की अवधारणा अमेरिकी में पारित किये गये 1991 के हाई परफॉरमेंस कम्प्यूटिंग एक्ट के बाद प्रकाश में आयी। इसी कानून के तहत हाई-फाइबर ऑप्टिक नेटवर्क में बड़े पैमाने पर धन का निवेश किया गया जिसका परिणाम इंटरनेट की परिघटना के विकास के रूप में सामने आया। इसके बाद व्यक्ति और कम्प्यूटर का संबंध पहले जैसा नहीं रह गया। अगर डिजिटल कनेक्टिविटी न होती तो कम्प्यूटरों से ज्यादा से ज्यादा टायपरायटर्स, वर्डप्रोसेसरों या केलकुलेटरों का काम ही लिया जा सकता था। लेकिन इन कनेक्टिविटी ने कम्प्यूटर को व्यक्ति के जीवन के साथ अंतरंग रूप से जोड़ दिया। 1990 में अमेरिका में केवल तीन लाख लोगों के पास पर्सनल कम्प्यूटर थे जिनकी संख्या महज़ छह साल में एक करोड़ के पार चली गयी। मोज़ाइक और नेटस्केप जैसे इंटरनेट ब्राउज़र्स का इस्तेमाल होने लगा और 'नेटिज़ंस' 'साइबरस्पेस' में विचरण करने लगे। इसी के साथ ई-मेल का चलन तेज़ी से बढ़ा और उसने व्यावसायिक से लेकर व्यक्तिगत जीवन तक सम्पर्क के अन्य माध्यमों को पीछे धकेलना शुरू कर दिया।

इसी दौरान क्लिंटन प्रशासन ने इस प्रश्न पर गौर करना शुरू किया कि सभी तरह के अमेरिकी नागरिकों को यह प्रौद्योगिकी समान रूप से उपलब्ध है या नहीं। पहले दौर में यह जाँच-पड़ताल केवल कुछ जातीय अल्पसंख्यक समूहों में कम लोगों के पास कम्प्यूटर होने या न होने तक ही सीमित थी। राष्ट्रपति बिल क्लिंटन और उपराष्ट्रपति अल गोर अपने भाषणों में डिजिटल डिवाइड का उल्लेख किया करते थे। अख़बारी विश्लेषणों में भी इसका प्रयोग किया जाने लगा। नैशनल टेलिकम्युनिकेशंस इनफ़्रास्ट्रक्चर एडमिनिस्ट्रेशन (एनटीआईए) ने कई सर्वेक्षण किये जिनके आधार पर निकाले गये परिणामों के आधार पर इस डिवाइड को अधिक व्यापक नज़रिये से समझा जाने लगा। इन सर्वेक्षणों के बाद इस अवधारणा का मतलब हार्डवेयर के दायरे से निकल कर इंटरनेट (खासकर ब्रॉडबैंड) की उपलब्धता में कमी के रूप में ग्रहण किया जाने लगा।

डिजिटल डिवाइड का संबंध शिक्षा के स्तर से भी जोड़ा जाता है। प्रौद्योगिकी के ज़रिये छात्रों के लिए कक्षा में होने वाले पठन-पाठन की सीमाओं से परे जा कर सीखने की सम्भावनाएँ पैदा होती हैं। इस लिहाज़ से शिक्षा का शुरुआती चरण भी दो भागों में बँट जाता है। एक तरफ़ वे स्कूल हैं जो अपने छात्रों को कम्प्यूटर और इंटरनेट की सुविधा प्रदान कर सकते हैं, और दूसरी तरफ़ यह सुविधा मुहैया न करा पाने वाले स्कूल हैं। समृद्ध और दरिद्र स्कूलों के बीच का यह अंतराल पाटने के लिए ही 1997 में अमेरिका में ई-रेट नामक कार्यक्रम चलाया गया था। हालाँकि इस कार्यक्रम के कुछ पहलुओं को सार्वजनिक आलोचना का सामना करना पड़ा,

पर इसकी वजह से ही 2005 तक वहाँ 95 फ़ीसदी स्कूलों की कक्षाओं में इंटरनेट पहुँच चुका था, जबकि 1996 में यह प्रतिशत केवल 14 था।

डिजिटल डिवाइड को अलग-अलग नज़रियों से देखा जाता है। नियो-लिबरल ख़ेमे की निगाह में कम्प्यूटर और इंटरनेट से वंचित समुदाय बाज़ार आधारित नयी आर्थिक नीतियों का विरोधी साबित हो सकता है। वह तेज़ी से बढ़ते हुए ई-बिज़नेस के दायरे और मीडिया-मनोरंजन की इंटरएक्टिव दुनिया से अलग रहने के लिए मजबूर है। यह दृष्टिकोण डिजिटल डिवाइड की शिनाख़्त आधुनिक हो चुके और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में संलग्न समाजों में 'डेमोक्रेटिक डेफ़िसिट' के रूप में करता है। डिजिटल डिवाइड के कारण ऐसे लोग भूमण्डलीकरण विरोधी राजनीतिक ताक़तों के पक्ष में मतदान कर सकते हैं। दूसरी ओर मैनुएल कैसेल्स जैसे विद्वानों की मान्यता है कि दुनिया में प्रौद्योगिकी के प्रसार और छितराव की प्रक्रिया एक सोची-समझी रणनीति के तहत चलायी जाती है। सूचना और संचार प्रौद्योगिकी तक लोगों की कम या ज्यादा पहुँच का सवाल मुख्य तौर पर राजनीतिक है। मसलन, अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियाँ अपने मक़सदों के लिहाज़ से तय करती हैं कि वे किसी ख़ास क्षेत्र में सूचना-प्रसार का काम सिर्फ़ एचआईवी/एड्स की रोकथाम करने के लिए करेंगी या फिर लोगों को मौक़ा दिया जाएगा कि वे प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करने के ज़रिये अपना दैनंदिन जीवन बेहतर कर सकें। एक सवाल यह भी उठाया जाता है कि जिन लोगों के पास आहार और पानी जैसे बुनियादी संसाधनों की कमी है, उन्हें ऑन लाइन कनेक्टिविटी की क्या ज़रूरत है।

डिजिटल डिवाइड ऑर्गनाइज़ेशन का विचार है कि ग़रीबी के शिकार किसी क्षेत्र में इस प्रौद्योगिकी को लाने का मतलब केवल वहाँ हार्डवेयर और इंटरनेट कनेक्शन उपलब्ध करवा देना ही नहीं है। यह भी देखना पड़ेगा कि वहाँ के लोग इस प्रौद्योगिकी को सार्थक ढंग से इस्तेमाल करके अपनी तात्कालिक समस्याएँ कैसे सुलझाएँगे। जब तक डिजिटल डिवाइड रहेगा, ई-डेमोक्रेसी और ई-गवर्नेंस की अवधारणाओं को धरती पर नहीं उतारा जा सकता। अगर नेट आधारित लोकतंत्र की सम्भवनाओं को उज्ज्वल बनाना है तो ग़रीबों तक यह प्रौद्योगिकी पहुँचाने की लागत काफ़ी हद तक घटानी पड़ेगी। एक अनुमान के मुताबिक़ 2007 में कम्प्यूटर और नेट कनेक्शन मुहैया कराने के लिए प्रति व्यक्ति 244 डॉलर यक्ति खर्च करने पड़ते थे, जबकि मैक्सिको की सबसे ग़रीब 20 फ़ीसदी आबादी को नेटसम्पन्न करने के लिए यह लागत घटा कर 35 डॉलर प्रति वर्ष लाने की ज़रूरत थी। ब्राज़ील के संदर्भ में यह आँकड़ा नौ डॉलर प्रति वर्ष था। इस लिहाज़ से देखा जा सकता है कि दुनिया के हर बच्चे को एक लैपटॉप

कम्प्यूटर देने की मुहिम में किस पैमाने के निवेश की जरूरत है। लातीनी अमेरिका की परिस्थितियों में कम्प्यूटर और नेट आज भी रोजाना की जरूरत के बजाय विलासिता की चीज माना जाता है।

कुछ ऐसे विद्वान भी हैं जो डिजिटल डिवाइड और उससे पैदा होने वाली दिक्कतों की गम्भीरता से सहमत नहीं हैं। बेंजामिन कम्पेन का विचार है कि डिजिटल डिवाइड को एक संकट के रूप में पेश करना एक मिथक को बढ़ावा देना है। प्रौद्योगिकी तक पहुँच का फ़र्क किसी भी तरह से स्थायी नहीं है। दुनिया के कम सम्पन्न हिस्सों में भी प्रौद्योगिकी का प्रसार बहुत कम समय में हुआ है। विकासशील देशों में मोबाइल फ़ोन की नेट कनेक्टिविटी के जरिये डिजिटल डिवाइड में तेज़ी से कमी आयी है। कम्पेन के मुताबिक़ धीरे-धीरे नेट कनेक्टिविटी के लिए कम्प्यूटर होना या कम्प्यूटर चलाने का प्रशिक्षण होना आवश्यक नहीं रह जाएगा।

**देखें :** अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

## संदर्भ

1. लिज़ा सरवन (2002), *ब्रिजिंग द डिजिटल डिवाइड : टेक्नॉलॉजी, कम्युनिटी, ऐंड पब्लिक पॉलिसी*, ब्लैकवेल, माल्डेन, एमए.
2. बेंजामिन एम. कम्पेन (सम्पा.) (2001), *द डिजिटल डिवाइड : फ़ेसिंग अ क्राइसिस ऑर क्रिएटिंग अ मिथ?*, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज, मेसाचुसेट्स.
3. ई. डेविसन और एस.आर. कॉटन (2003), 'कनेक्शन डिस्कंपेंसीज़ : अनमास्किंग फ़रदर लेयर्स ऑफ़ द डिजिटल डिवाइड', *फ़र्स्ट मनुडे*, खण्ड 8, अंक 3.
4. एम. वारशौर (2004), *टेक्नॉलॉजी ऐंड सोशल इनक्ल्यूज़न : रिथिंकिंग द डिजिटल डिवाइड*, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.

— अभय कुमार दुबे

## डेविड एमील दुर्खाइम

(David Emile Durkheim)

डेविड एमील दुर्खाइम (1858-1917) को आधुनिक समाजशास्त्र का संस्थापक और समाज-वैज्ञानिक शब्दावली में दुनिया का पहला अधिकारिक समाजशास्त्री माना जाता है। अध्ययन की विश्वविद्यालयी व्यवस्था में वे समाजशास्त्र के पहले प्रोफ़ेसर भी थे। अपने अकादमिक जीवन के तीन दशकों में उन्होंने समाजशास्त्र को न केवल एक विशिष्ट अनुशासन के रूप में स्थापित किया, बल्कि इस अनुशासन की सैद्धांतिक और पद्धतिगत ज़मीन भी तैयार की। दुर्खाइम की समाजशास्त्रीय संकल्पना का विधेयक तत्त्व मनुष्य को सामाजिक संबंधों का परिणाम मानता है। इस कारण दुर्खाइम का समाजशास्त्र अपने बुनियादी ढाँचे में व्यक्तिवाद के किसी भी रूप को मान्यता देने से इनकार करता है। मनुष्य की इयत्ता को समाज की उपज मानने के संदर्भ में दुर्खाइम कॉम्ट, मार्क्स, वेबर आदि सामाजिक चिंतकों के नज़दीक बैठते हैं। गौरतलब है कि व्यक्ति को समाज का उत्पाद मानना और सामाजिक परिघटना को केंद्रीय महत्त्व देना ही समाजशास्त्र को अन्य अनुशासनों की तुलना में एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है। समाजशास्त्र की यह विशिष्टता दुर्खाइम के बिना सम्भव नहीं थी। हालाँकि दुर्खाइम ने मोंतेस्क्यू और रूसो जैसे विचारकों से लेकर व्यवहारवाद, समाजवाद तथा नैतिक शिक्षा जैसे मसलों पर भी सघन चिंतन किया है, परंतु समाजशास्त्र के क्षेत्र में उनकी चार रचनाओं— *द डिवीज़न ऑफ़ लेबर*, *द रूल्स ऑफ़ सोसिओलॉजिकल मैथड*, *सुइसाइड* तथा *द ऐलिमेंटरी फ़ॉर्म ऑफ़ द रिलीजस लाइफ़* को सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

डेविड एमील दुर्खाइम का जन्म एपीनाल, लोरेन के एक फ़्रांसीसी यहूदी परिवार में हुआ था। उनके पिता और दादा दोनों ही रब्बी (यहूदी पुरोहित) थे। उनकी शुरुआती शिक्षा भी एक धार्मिक स्कूल में हुई, लेकिन जीवन के शुरू में ही उन्होंने पूरी तरह से सेकुलर जीवन गुज़ारने का निश्चय किया। एक अध्यवसायी छात्र के रूप में उन्होंने विख्यात ईकोल नॉर्मेल सुपीरियरे में दाखिला लिया और 1886 में अपनी डॉक्टरेट के अंश के रूप में उन्होंने *द डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी* की रचना की।

इस रचना में दुर्खाइम आधुनिक और पारम्परिक समाजों का फ़र्क दिखाते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि आधुनिक समाज जहाँ श्रम के विशेषीकरण पर आधारित होता है वहीं पारम्परिक समाज साझे विश्वासों पर चलता है। उनके मुताबिक़ समाज के रूपों का यह अंतर नियमों की व्यवस्था





डेविड एमील दुर्खाइम ( 1858-1917)

के अंतर को भी दर्शाता है। इस तरह आधुनिक समाज स्व-नियमन से संचालित होता है जबकि पारम्परिक समाज के नियम बाहरी विश्वासों और अनुमोदन पर टिके होते हैं। दुर्खाइम के अनुसार चूँकि साझे विश्वास सर्वमान्य नैतिकता के प्राधिकार पर टिके होते हैं इसलिए इन विश्वासों पर आधारित व्यवस्था शक्ति और दबाव के जरिए ही क्रायम रह सकता है। जबकि स्वनियमकारी या आधुनिक समाज स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय जैसे तत्त्वों के बिना संतुलित नहीं रह सकता। विद्वानों का मानना है कि सामाजिक रूपों की विविधता को नियमों के विशिष्ट ढाँचे से जोड़ कर देखने का यह सूत्रीकरण अपराध और कानून के समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए बुनियादी प्रेरक तत्त्व रहा है। दुर्खाइम मानते थे कि समाज के पारम्परिक और आधुनिक रूपों में विभ्रम के कारण तथा आधुनिक समाजों पर पारम्परिक कानून या नियम थोपने की प्रवृत्ति ही कई सामाजिक समस्याओं के लिए जिम्मेदार रही है। आधुनिक समाजों की यह व्याख्या दुर्खाइम के कृतित्व की विशिष्ट उपलब्धि मानी जाती है। इस रचना में दुर्खाइम व्यक्ति के सामाजिक साहचर्य या जुड़ाव का विश्लेषण करते हुए यह विचार भी रखते हैं कि व्यक्ति को

खास तरह की सामाजिक साहचर्य की जरूरत पड़ती है। दुर्खाइम दिखाते हैं कि सामाजिक संस्थाओं के अंदर स्वतः ही एक संसक्ति का तत्त्व होता है जो अपने सहभागियों से एक निश्चित व्यवहार की मांग करता है। दुर्खाइम इसीलिए इस बात पर जोर देते थे कि व्यक्ति के बजाय सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए। उनके अनुसार इन सामाजिक प्रक्रियाओं का ठोस रूप संस्थाओं और व्यवहार में अभिव्यक्त होता है जिनका अनुवीक्षण के आधार पर भी अध्ययन किया जा सकता है। दुर्खाइम इन प्रक्रियाओं को सोशल फ़ैक्ट्स या सामाजिक तथ्यों की संज्ञा देते हैं।

दुर्खाइम को समाजशास्त्रीय अध्ययन में सांख्यिकी के सर्जनात्मक उपयोग करने का श्रेय भी जाता है। इस संबंध में उनकी रचना *सुइसाइड* एक मानक की तरह स्थापित है। इस कृति में दुर्खाइम ने यह प्रतिपादित किया था कि आत्महत्या की अलग-अलग दरों की व्याख्या व्यक्ति के सामाजिक सम्बद्धता के स्तरों में प्रगट अंतर के आधार पर की जा सकती है। मसलन, उन्होंने दिखाया कि व्यक्ति की निजी प्रवृत्तियों के आधार पर इस बात का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता कि उम्रदराज़ पुरुष ही क्यों आत्महत्या करते हैं। लेकिन अगर व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के कारकों जैसे उसके अविवाहित होने या समाज से उसके अलगाव आदि पर ध्यान दिया जाए तो आत्महत्या के कारणों की शिनाख्त की जा सकती है। दुर्खाइम अपने अध्ययन में सांख्यिकी का इस्तेमाल सामाजिक तथ्यों जैसे किसी समूह के सदस्यों के आपसी साहचर्य के रूपों की ताकत या चरित्र उजागर करने के लिए करते हैं। मसलन, अगर किसी समूह में आपसी साहचर्य की भावना कमजोर है तो उसके सदस्यों में नैतिक या मनोवैज्ञानिक समस्याएँ पाये जाने की सम्भावना ज़्यादा होगी। इसके उलट अगर किसी समूह में साहचर्य की भावना बहुत गहरी हो तो उसके सदस्य अपने समूह के लिए त्याग करने के लिए ज़्यादा तत्पर पाये जाएंगे।

दुर्खाइम की अन्य कृति *द रूल्स ऑफ़ सोसियोलॉजिकल मैथड* समाजशास्त्र में प्रयुक्त की जाने वाली पद्धतियों की आधारभूमि मानी जाती है। इस रचना में दुर्खाइम स्पष्ट करते हैं कि समाजशास्त्र की केंद्रीय विषय-वस्तु सामाजिक व्यवस्था है, लिहाज़ा उसमें व्यक्ति के बजाय समाज के सांस्थानिक और व्यवस्थागत रूपों को प्रमुखता दी जानी चाहिए। इस रचना में दुर्खाइम समाजशास्त्र को ऐसे ही सामाजिक तथ्यों का अध्ययन बताते हैं। उनके अनुसार इन सामाजिक तथ्यों के बीच एक खास तरह की संगति होती है जिसे केवल उनके निर्माणकारी अंशों का संचित परिणाम नहीं कहा जा सकता। अपनी रचना *सुइसाइड* में दुर्खाइम इसी बिंदु को स्पष्ट करना चाहते थे कि आत्महत्या जैसी निजी परिघटना को भी लोगों के साहचर्य-संबंधों तथा सामाजिक

बाँडिंग के आधार पर व्याख्यायित किया जा सकता है। उनकी दलील थी कि व्यक्तिगत भावनाएं, मूल्य या विचार जैसी चीजें वास्तव में सामाजिक सहभागिता से ही उपजती हैं।

दुर्खाइम की दो रचनाएँ *द डिवीजन ऑफ़ लेबर* तथा *द ऐलिमेंटरी फ़ॉर्म ऑफ़ द रिलीजस लाइफ़* तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की पड़ताल में आधुनिक उपागमों का इस्तेमाल करने के लिए जानी जाती है। आधुनिकता के समाजशास्त्रीय विमर्श में ये दोनों रचनाएँ अपने बारीक और सघन अध्ययन के कारण आज भी एक अनिवार्य संदर्भ बनी हुई हैं। दुर्खाइम का चिंतन गहरे अर्थ में आधुनिक था। फ़ॉयड जैसे मनोविश्लेषक भी अपने समय के पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो पाये थे और अपनी कृति *टोटम एंड टैबू* में आदिम दिमाग की तुलना मानसिक रोगी से कर बैठे थे, जबकि दुर्खाइम ने अपनी रचना *ऐलिमेंटरी फ़ॉर्म ऑफ़ द रिलीजस लाइफ़* में यह प्रतिपादित किया कि तर्कबुद्धि के लिहाज़ से आदिम क्रबीलों की सामाजिक संरचनाएँ और विश्वास आधुनिक मनुष्य की तर्कबुद्धि से कमतर नहीं ठहराये जा सकते। दुर्खाइम के समय में व्याप्त राजनीतिक दुराग्रहों को देखते हुए यह एक साहसिक विचार था। चूँकि दुर्खाइम तर्कबुद्धि को सामाजिक उत्पाद मानते हैं इसीलिए मनुष्य को कमतर या श्रेष्ठतर साबित करने वाले विचार को वे सिरे से खारिज कर देते हैं। दुर्खाइम के इस हस्तक्षेप ने समाजशास्त्र को एक बुनियादी समतावाद से लैस किया है। उक्त रचना में धर्म की सामाजिक उपयोगिता पर विचार करते हुए दुर्खाइम यह दलील पेश करते हैं कि मनुष्य धार्मिक रीति-रिवाज़ों तथा कर्मकाण्डों में भागीदारी के जरिये ही मानवीय तर्कबुद्धि के बुनियादी रूपों- स्पेस, समय, वर्गीकरण, शक्ति, कार्य-कारण की समझ तथा सम्पूर्णता का बोध अर्जित करता है। इस रचना में दुर्खाइम यह विचार भी पेश करते हैं कि पवित्रता का सामाजिक अनुभव सामाजिक अंतःसंबंधों को जन्म देता है। उनके मुताबिक सामाजिक व्यक्ति का जन्म तथा तर्कबुद्धि का विकास भी इसी प्रक्रिया से निरस्त होता है।

इस रचना में दुर्खाइम यह भी कहते हैं कि समस्त अवधारणाओं की उत्पत्ति समाज से ही होती है। इसलिए तर्क, भाषा और अर्थ की समझ विकसित करने के लिए इस बात का अध्ययन किया जाना चाहिए कि शब्दों और अवधारणाओं का किन सामाजिक रूपों और संदर्भों में इस्तेमाल किया गया है। यहाँ दुर्खाइम धर्म को समाज का प्रकार्य बताते हुए एक और अहम सूत्रीकरण करते हैं कि धर्म सामाजिक व्यवस्था को क्रायम रखने का माध्यम है। दुर्खाइम धार्मिक विश्वासों की सत्यता को सीधे तो नहीं नकारते लेकिन उनके लिए धर्म का सत्य उसकी इस क्षमता से तय होता है कि वह कर्मकाण्डों को प्रोत्साहित कर सकता है या नहीं। उनके अनुसार संगठित धर्मों को केवल विश्वासों के आधार पर नहीं समझा जा

सकता क्योंकि इस तरह के धर्म अक्सर समाज के पारम्परिक रूपों को अक्षुण्ण रखने के लिए व्यक्तिगत आस्था का दमन करते हुए भी पाये जाते हैं। आधुनिक और पारम्परिक समाजों में धर्म की भूमिका को लेकर दुर्खाइम का यह सूत्र भी काबिले गौर है कि समाज की इन दो अलग क्रिस्मों में धर्म के प्रकार्य एक जैसे नहीं होते। पारम्परिक समाजों में तो धर्म सामाजिक नियंत्रण का औजार होता है जबकि आधुनिक समाजों में उसका यह प्रकार्य ग़ैर-ज़रूरी हो जाता है क्योंकि आधुनिक समाजों में वह ज्ञान-मीमांसा का प्रकार्य निभाने लगता है। इसीलिए सामाजिक व्यवस्था में उसकी भूमिका पहले जैसी नहीं रह जाती।

दुर्खाइम की यह निष्पत्ति समाजशास्त्रीय चिंतन के लिहाज़ से एक उपलब्धि कही जाएगी कि मनुष्य के एक जैविक प्राणी से सामाजिक प्राणी में रूपांतरित होने की परिघटना को व्यक्ति की जैविक क्षमताओं या मनोविज्ञान के आधार पर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उनकी दलील है कि जैविक का सामाजिक में रूपांतरण सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से सम्पन्न होता है। इसलिए दुर्खाइम को लगता है कि मन और शरीर को दो अलग इयत्ता क्रार देने वाला मत केवल समाज की प्रक्रिया से बाहर खड़े जैविक अस्तित्व और सामाजिक प्राणी का अंतर दर्शाता है। उनके अनुसार पहली अवस्था के प्राणी को रैशनल मनुष्य नहीं कहा जा सकता। वे इस बात पर भी जोर देते हैं कि मनुष्य में तर्कबुद्धि या व्यक्तित्व जैसी चीजें समाज की प्रक्रिया से ही पैदा होती हैं। दुर्खाइम का मत था कि मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में बनाये रखने के लिए सामाजिक प्रक्रियाओं और साहचर्य के खास रूपों की दरकार होती है। यानी सामाजिक मनुष्य को उसके निश्चित सामाजिक विन्यास और संदर्भ से अलग हटाकर नहीं देखा जा सकता। इसलिए दुर्खाइम आगाह भी करते हैं कि अगर मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र या दर्शनशास्त्र के अध्ययन की कोई पद्धति सामाजिक परिघटना को केवल व्यक्तियों की संचित गतिविधियों के आधार पर समझने का उपक्रम करती है तो उसे समाज जैसे सबसे महत्वपूर्ण पक्ष को दरकिनार करने का दोषी समझा जाना चाहिए।

दुर्खाइम के चिंतन और कृतित्व में समतावाद की स्पष्ट प्रतिष्ठा के बावजूद नारीवादी विश्लेषकों का कहना है कि उन्होंने स्त्रियों के मुद्दे पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। एक हद तक यह बात सही है कि समाजशास्त्री के तौर पर दुर्खाइम की कोई भी रचना स्त्री-पक्ष पर एकाग्र नहीं है। लेकिन उन्नीसवीं सदी के जिस दौर में दुर्खाइम समाजशास्त्र को व्यवस्थित कर रहे थे उस समय स्त्रियों के प्रश्नों पर बहुत कम सामाजिक चिंतक विचार कर रहे थे। *सुइसाइड* में उन्होंने आत्महत्या की एक भाग्यवादी क्रिस्म का जिक्र किया है जिसे

वे मुख्यतः स्त्रियों के साथ जोड़ कर देखते हैं। दुर्खाइम का खयाल यह भी था कि विवाह पुरुषों के लिए तो लाभकारी होता है लेकिन स्त्रियों के जीवन पर उसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। *द डिवीजन ऑफ़ लेबर* में दुर्खाइम मूलवासियों के हवाले से बताते हैं कि ऐसे समुदायों में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पुरुषों के मुकाबले कमतर नहीं थीं जबकि इसके उलट आधुनिक समाजों में स्त्री की हैसियत कमजोर होती गयी है। तत्कालीन समाज की औसत प्रवृत्ति स्त्री को कोमल और कमजोर के रूप में चित्रित करती थी। इसे देखते हुए दुर्खाइम की दृष्टि निश्चय ही अग्रगामी कही जाएगी।

दुर्खाइम का अवदान समाजशास्त्रियों की कई पीढ़ियों के लिए प्रेरणा, प्रश्नांकन, समावेशन और जिरह का विषय रहा है। तीस के दशक में टैलकॉट पार्संस ने दुर्खाइम के कृतित्व को संरचनात्मक प्रकार्यवाद में समेटने का प्रयास किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अमेरिका में दुर्खाइम के अवदान को प्रकार्यवाद और प्रत्यक्षतावाद के नजारिये से देखा जाने लगा। जबकि फ्रांस में उनकी दृष्टि का लेवी-स्त्रॉस जैसे मानवशास्त्रियों ने उपयोग किया जिनकी दिलचस्पी दुर्खाइम द्वारा प्रतिपादित संकल्पनाओं, विचारों और समाज के अंतर्संबंधों के आधार पर एक प्रतीकवादी मानवशास्त्र रचने में थी। लेकिन दुर्खाइम के विचारों को आधार बनाकर नयी व्याख्या करने का यह उपक्रम इस मायने में एकांगी साबित हुआ कि उसने दुर्खाइम की मूल प्रस्तावनाओं के कुछ निश्चित हिस्सों का ही इस्तेमाल किया। मार्क्सवादी धारा के समाजशास्त्रियों ने अपने लेखन में दुर्खाइम के चिंतन में निहित रैडिकल स्वरूप को महत्त्व देते हुए पार्संस के दृष्टिकोण को प्रतिसंतुलित करने का प्रयास किया है जो दुर्खाइम को राजनीतिक रूप से रूढ़िवादी साबित करने पर जोर देता है।

समाजशास्त्रियों के एक समूह का मानना है कि दुर्खाइम का समाजशास्त्र व्यक्ति को गौण कर देता है। लेकिन ध्यान से देखें तो दुर्खाइम ऐसा इरादतन करते हैं। उनकी दृष्टि समाज को मूलतः सामूहिकता में समझने का आग्रह करती है तथा इस बात पर जोर देती है कि अगर सामाजिक सिद्धांतों की पड़ताल और समाजशास्त्र के व्यवहार में अंतर्विरोधों के अध्ययन को तवज्जो न देकर उसे व्यक्तिवाद का पर्याय बना दिया जाता है तो समाजशास्त्र का बुनियादी उद्देश्य निरस्त हो जाता है। दुर्खाइम के तई समाजशास्त्र का काम यह नहीं है कि वह दर्शनशास्त्रीय संधान के लिए कच्ची सामग्री मुहैया कराये और फिर इस बात का इंतजार करे कि दार्शनिकों का खेमा अपने मूल्यांकन में क्या कहता है। इसके बरक्स, दुर्खाइम यह इसरार करते हैं कि समाजशास्त्र को सामाजिक तथ्यों के अध्ययन संबंधी कसौटियों का निर्माण खुद करना चाहिए। उन्होंने दर्शनशास्त्रियों की इस दलील को खारिज कर

दिया कि सामाजिक तथ्यों में आकस्मिकता का तत्त्व होता है। इस आलोचना का सुचिंतित जवाब देते हुए दुर्खाइम ने कहा कि समाज की निरंतरता बनाये रखने के लिए कुछ खास तरह के और स्थायी रूप जरूरी होते हैं।

**देखें :** अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लॉद लेवी-स्त्रॉस, क्लिफर्ड गीर्ट्ज़, जार्ज जिमेल, टैलकॉट पार्संस, पिएर बोर्दियो, फ्रेंज उरी बोआस, मारग्रेट मीड, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मिल्टन सिंगर, मैक्स वेबर, रुथ बेनेडिक्ट।

### संदर्भ

1. आर. ए. जॉस (1986), *एमीली दुर्खाइम : ऐन इंटीडक्शन टू फोर मेजर वर्क्स*, सेज, बेवर्ली हिल्स.
2. एस. ल्यूक्स (1973), *एमील दुर्खाइम, हिज़ लाइफ़ ऐंड वर्क्स : अ हिस्टोरिकल ऐंड क्रिटिकल स्टडी*, स्टैनफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टैनफर्ड.
3. एस. मेस्त्रोविक (1988), *एमील दुर्खाइम ऐंड द रिफॉर्म ऑफ़ सोसिओलॉजी*, रॉमैन ऐंड लिटिलफील्ड, लैनहम, एमडी.
4. जी. पोग्गी (2000), *दुर्खाइम*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.

— नरेश गोस्वामी

## डेविड रिकार्डो

(David Ricardo)

ऐडम स्मिथ और कार्ल मार्क्स के साथ मिल कर डेविड रिकार्डो (1772-1823) अठारहवीं सदी के आखिरी वर्षों से लेकर उन्नीसवीं सदी के आखिरी वर्षों के बीच क्लासिकल अर्थशास्त्र की सर्वोच्च त्रयी की रचना करते हैं। रिकार्डो ने आर्थिक विज्ञान में कई महत्त्वपूर्ण और अविस्मरणीय योगदान किये जिनकी प्रासंगिकता आज तक बरकरार है। मूल्य का श्रम सिद्धांत और तुलनात्मक लाभ का सिद्धांत प्रतिपादित करने के साथ रिकार्डो ने पहली बार वितरण के आर्थिक सिद्धांत का सूत्रीकरण किया और उसके फलितार्थों का अनुमान लगाया। रिकार्डो ने यह समझने का प्रयास किया कि आमदनी लगान, मजदूरी और मुनाफ़े के बीच कैसे बँटती है। रिकार्डो की दिलचस्पी यह जानने में भी थी कि अर्थव्यवस्थाओं के उत्थान और पतन के प्रमुख कारण कौन-कौन से होते हैं। रिकार्डो ने मुक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को और अधिक समृद्धि की तरफ़ ले जाने वाला करार दिया। दूसरी तरफ़ उन्होंने पाया कि खेतिहर उत्पादन में लाभ का स्तर लगातार गिरता है जिससे आर्थिक वृद्धि की रफ़्तार धीमी हो जाती है। उन्होंने एक ऐसी आर्थिक प्रणाली कल्पित की





डेविड रिकार्डों (1772-1823)

जिसमें सापेक्षिक दाम केवल उत्पादन की लागत के आधार पर तय किये जा सकते हैं और जिसमें माँग और उपयोगिता कम से कम भूमिका अदा करती हो। रिकार्डों की यही कल्पना आगे चल कर पियरो साफ़ा ने अपनायी और जो आर्थिक विचार के नव-रिकार्डोंवादी स्कूल का आधार बनी।

लंदन के एक अमीर यहूदी परिवार में पैदा हुए डेविड रिकार्डों ने चौदह साल की उम्र में ही अपने पिता की दलाल-फ़र्म के कामकाज में भाग लेना शुरू कर दिया था। व्यापार में उनकी प्रतिभा का लोहा लोग शुरू से मानते थे। लेकिन विवाह के बाद ईसाई बन जाने के बाद पिता ने उनसे किसी भी तरह का नाता तोड़ दिया जिसके कारण उन्हें अपनी अलग दलाली-फ़र्म चलाने के लिए ऋण लेना पड़ा। लेकिन रिकार्डों ने धंधे में तेज़ी से कामयाबी हासिल की और 26 साल की उम्र में ही अमीरी हासिल कर ली। 1799 में ऐडम स्मिथ की रचना *वेल्थ ऑफ़ नेशंस* पढ़ने के बाद उनकी दिलचस्पी अर्थशास्त्र के अध्ययन में बढ़ी और वे जेम्स मिल, बेंथम और माल्थस जैसे अर्थशास्त्रियों के साथ नियमित सलाह-मशविरा करने लगे। 1819 में हाउस ऑफ़ कामंस की सदस्यता शुल्क के बदले प्राप्त करने के बाद उनका सांसद जीवन शुरू हुआ और उन्होंने वित्तीय मामलों के विशेषज्ञ की ख्याति प्राप्त की। अपनी धन-समृद्धि के कारण रिकार्डों को अर्थशास्त्र के इतिहास के सबसे अमीर अर्थशास्त्री की संज्ञा दी जाती है।

ऐडम स्मिथ ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के संदर्भ में 'परम लाभ' का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। इसका मतलब यह

था कि अगर कोई देश कोई जिस दूसरों से अधिक बनाता है तो वह उसके निर्यात के मामले में परम लाभ की स्थिति में चला जाता है। मसलन, अगर जापान अमेरिका के मुकाबले कारों और कम्प्यूटरों का अधिक उत्पादन करेगा तो उनका निर्यात करके अमेरिका जापान के मुकाबले व्यापार के घाटे का शिकार हो जाएगा। यह जापान का उस व्यापार के संदर्भ में परम लाभ होगा। लेकिन रिकार्डों ने कहा कि अगर कोई देश किसी जिस के उत्पादन में कम दक्ष है तो भी दिक्कत की कोई बात नहीं, क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार परम लाभ के नहीं बल्कि 'तुलनात्मक लाभ' के सिद्धांत पर काम करता है। वह उन जिनसे भी व्यापार करता है जिन्हें बनाने में उसे कम दक्षता प्राप्त है, और उनका भी जिनके निर्माण में वह सबसे आगे है। रिकार्डों का कहना है कि किसी एक निर्माण में अपनी सापेक्षिक रूप से बेहतर दक्षता के आधार पर विशेषज्ञता हासिल करके प्रत्येक देश विदेश व्यापार से अपनी समृद्धि में योगदान कर सकता है।

अगर जापान कार उत्पादन में विशेषज्ञता हासिल कर ले और अमेरिका चावल उत्पादन में तो कारों और चावल का कुल विश्व उत्पादन अतिरिक्त रूप से बढ़ जाएगा। रिकार्डों ने इस सवाल का भी जवाब दिया कि यह बढ़ा हुआ उत्पादन किसे मिलेगा। मान लीजिये कि जापान ने तीन सौ कारें उत्पादित की हैं और वह सौ टन चावल के बदले सौ कारें अमेरिका को बेच देता है तो उसके पास दो सौ कारें और सौ टन चावल बचते हैं। अमेरिका ने दो सौ टन चावल पैदा किये हैं और सौ टन के बदले उसने सौ कारें ले ली हैं, इसलिए उसके पास सौ टन चावल और सौ कारें रह जाती हैं। इस सूरत में विशेषज्ञीकरण और व्यापार का सारा लाभ जापान को जाएगा। लेकिन, अगर अमेरिका सौ टन चावल के बदले जापान से 150 कारें खरीदने में कामयाब हो जाए तो अमेरिका पचास कारों का अतिरिक्त लाभ प्राप्त कर सकता है। इस उदाहरण में रिकार्डों यह बताते नज़र आते हैं कि तुलनात्मक लाभ का सिद्धांत विदेश व्यापार में विशेषज्ञीकरण के साथ-साथ विनिमय दर पर भी आधारित है। अगर व्यापार एक टन चावल के बदले एक कार और एक टन चावल के बदले डेढ़ कार के दायरे में होता है तो कुल मिला कर दोनों देश लाभ में रहेंगे। इसलिए दोनों का स्वार्थ विनियम दर इसी सीमा के भीतर रखने में होगा। रिकार्डों ने यह नहीं बताया कि विनिमय दर को इसी सीमा में बनाये रखने से होने वाले लाभ का बँटवारा दोनों देशों के बीच किस प्रकार होगा। यह व्याख्या बाद में जॉन स्टुअर्ट मिल ने की।

राष्ट्रीय आमदनी को लगान, मज़दूरी और मुनाफ़े के बीच बाँटने के सिद्धांत का प्रतिपादन रिकार्डों की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। उन्होंने लगान की एक सी दर के बजाय भू-खण्डों से होने वाली पैदावार के आधार पर लगान



की कम या ज्यादा दर रखने का सुझाव दिया। उनकी मान्यता थी कि अच्छी पैदावार वाली ज़मीन का इस्तेमाल हो चुकने के बाद अपेक्षाकृत कम पैदावार वाली ज़मीनों पर खेती होगी जिन पर लगान कम से कम दिया जाएगा।

मज़दूरी निर्धारित करने के सवाल पर रिक्टॉर्ड ने जीवन-यापन की ज़रूरतों के आधार पर न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित करने का सुझाव दिया। जीवन-यापन के प्रश्न पर भी रिक्टॉर्ड का रवैया स्मिथ के रवैये से भिन्न था। वे किसी एक भौतिक मानक के आधार पर नहीं बल्कि मज़दूरों की आदतों, अभ्यास और परम्परा के आधार पर उसके निर्धारण के पक्ष में थे। रिक्टॉर्ड के इस आग्रह से यह सिद्धांत निकला कि अगर मज़दूर किसी बदले हुए युग में बेहतर जीवन-शैली के अभ्यस्त हैं तो उनका न्यूनतम वेतन बढ़ा दिया जाना चाहिए। मसलन, उन्नीसवीं सदी का मज़दूर अपने घर में बाथरूम की ज़रूरत महसूस नहीं करता था, पर बीसवीं सदी के आखिरी सालों में हर मज़दूर को घर में बाथरूम चाहिए। उसका वेतन उसी लिहाज़ से तय किया जाना चाहिए। इसी तरह रिक्टॉर्ड का यह भी आग्रह था कि अगर बाज़ार में खाद्य के दाम बढ़ गये हैं तो उसी के मुताबिक न्यूनतम वेतन भी बढ़ा दिया जाना चाहिए।

मुनाफ़े के मामले में रिक्टॉर्ड की मान्यता थी कि उसका स्तर हर उद्योग के लिए समान होना चाहिए। अगर किसी एक उद्योग में मुनाफ़े की दर ज्यादा होगी तो अधिक पूँजीपति वही धंधा करना चाहेंगे और नतीजतन दाम और मुनाफ़े में गिरावट आयेगी। कम मुनाफ़े वाले उद्योगों से पूँजीपति बाहर निकल जाएँगे जिससे उस क्षेत्र में दाम और मुनाफ़ा बढ़ जाएगा।

रिक्टॉर्ड रोज़गार के संदर्भ में माल्थस जैसे ही निष्कर्षों पर पहुँचे कि बेहतर मशीनों से उत्पादकता और मुनाफ़े में वृद्धि होगी, पर प्रौद्योगिकीय बेरोज़गारी की परिघटना भी पैदा होगी। उन्होंने माना कि अर्थव्यवस्था लगातार ऊँची बेरोज़गारी की समस्या का शिकार रह सकती है।

श्रम का मूल्य सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए रिक्टॉर्ड ने लागत के रूप में केवल श्रम को ही देखने का आग्रह किया। रिक्टॉर्ड का तर्क था कि उपयोगिता को किसी ज़िंस के विनिमय-मूल्य की अनिवार्य शर्त के रूप में देखा जाना चाहिए। दुर्लभ मूर्तियों या चित्रों के अपवादों को छोड़ कर रिक्टॉर्ड किसी चीज़ की अपेक्षाकृत दुर्लभता को उसके विनिमय-मूल्य का आधार बनाने के लिए तैयार नहीं थे। वे मानते थे कि अन्य सभी चीज़ों के मामले में उन्हें बनाने में किये गये श्रम के आधार पर उनका मूल्य तय किया जाना चाहिए। कौशल और श्रम की सघनता की अहमियत मानने से इनकार करते हुए रिक्टॉर्ड का आग्रह था कि ज़िंसों को बाज़ार में लाने में लगे वक्र का फ़र्क उनके मूल्य पर छह से

सात फ़ीसदी तक असर डाल सकता है। इसी वजह से रिक्टॉर्ड के मूल्य सिद्धांत को 'श्रम का 93 फ़ीसदी मूल्य सिद्धांत' भी कहा जा सकता है।

समझा जाता है कि कार्ल मार्क्स ने रिक्टॉर्ड के आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर ही अपना अर्थशास्त्र खड़ा किया है। पर, स्वयं मार्क्स ने और फिर मार्क्सवादियों ने रिक्टॉर्ड की मिश्रित आलोचना की है। इस आलोचना की प्रकृति इस प्रकार की है कि रिक्टॉर्ड ने अपने वक्र में क्या सोचा और क्या नहीं सोच पाया। लेकिन रिक्टॉर्ड की सबसे बड़ी आलोचना उनके अर्थशास्त्र की प्रकृति के बारे में की गयी है। कहा जाता है कि वे स्वयं भी भावनाओं से रहित व्यक्ति थे और उन्होंने वैसा ही अर्थशास्त्र रचा। वे अर्थव्यवस्था के अमूर्त मॉडल की खोज में रहते थे। उनका राजनीतिक अर्थशास्त्र भी निर्मम था। दरअसल, उन्होंने जिस संसार का वर्णन किया है, वह संसार भी आर्थिक लिहाज़ से बेरहम क्रिस्म का था। पूँजीपतियों के लिए मज़दूर इनसानी मशीनों की तरह थे, और मशीनें उत्पादन करने वाले इनसानों की जगह ले सकती थीं। इस परिस्थिति में रचे गये रिक्टॉर्ड के अर्थशास्त्र को थॉमस कार्लाइल ने मनहूसियत के अर्थशास्त्र की संज्ञा दी थी। लेकिन, एक दूसरे नज़रिये से रिक्टॉर्ड के इस रवैये को उनकी वैज्ञानिकता और वस्तुनिष्ठता भी कहा जा सकता है।

**देखें :** अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट कानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ़्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ़्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

### संदर्भ

1. ए.वी. एनीकिन (1983), *आर्थिक विज्ञान का युवा काल : मार्क्स-पूर्व का अर्थशास्त्र*, अनुवाद : गिरीश मिश्र, पीपुल्स पब्लिशिंग

- हाउस, नयी दिल्ली.
2. मार्क ब्लॉग (1958), *रिकार्डियन इकॉनॉमिक्स*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवन, कनेक्टिकट.
  3. सेमुअल होलेंडर (1979), *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ डेविड रिकार्डो*, युनिवर्सिटी ऑफ़ टोरंटो प्रेस, टोरंटो.
  4. पियरे स्नाफ़ा (सम्पा.) (1950-51), *वर्क्स ऑफ़ डेविड रिकार्डो*, दस खण्ड, रॉयल इकॉनॉमिक सोसाइटी, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

## डेविड ह्यूम

(David Hume)

इतिहासकार, दार्शनिक और अर्थशास्त्री डेविड ह्यूम (1711-1776) स्काटिश नवजागरण की केंद्रीय हस्ती होने के साथ-साथ पश्चिमी राजनीतिक दर्शन की उदारतावादी परम्परा के सबसे महत्त्वपूर्ण इंद्रियानुभववादी चिंतकों में से एक हैं। ब्रिटेन के इतिहास पर एक महाग्रंथ की रचना के लिए ख्याति प्राप्त ह्यूम ने निबंध-शैली को मान्यता दिलाने में उल्लेखनीय योगदान किया। कहा जाता है कि अगर ऐडम स्मिथ ने ह्यूम द्वारा लिखित एक निबंध का अध्ययन न किया होता तो राजनीतिक अर्थशास्त्र के महाग्रंथ *वेल्थ ऑफ़ नेशंस* की रचना का रास्ता न खुलता। 1752 में प्रकाशित हुआ यह निबंध वणिकवाद के खिलाफ़ संघर्ष में क्लासिकी धारा की उपलब्धियों को सटीक ढंग से पेश करता था। कांट की भाषा में कहें तो ह्यूम की रचनाओं ने उन्हें 'जड़सूत्रवादी उनींदेपन' से जगाने की भूमिका निभायी। शॉपेनहॉवर मानते थे कि ह्यूम द्वारा लिखित प्रत्येक पृष्ठ से हीगेल, हरबर्ट और श्लीरमाकर के समग्र दार्शनिक वांगमय के मुक्राबले अधिक सीखा जा सकता है। जेरेमी बेंथम, कार्ल पॉपर और नोआम चोमस्की ने भी स्वीकार किया है कि ह्यूम के दर्शन से उन्होंने काफी-कुछ ग्रहण किया है।

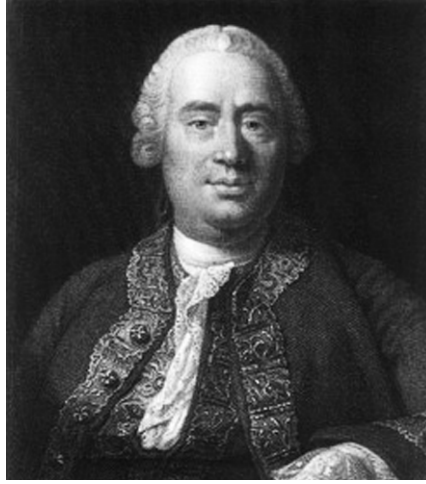
एडिनबरा में एक कुलीन लेकिन आर्थिक रूप से उजड़ चुके परिवार के सबसे छोटे पुत्र के रूप में जन्मे डेविड ह्यूम को सारे जीवन अपने बेहतरीन लेखन पर निर्भर रहना पड़ा। अध्यवसाय और मितव्यता जैसे परम्परागत स्काटिश गुण उनमें कूट-कूट कर भरे हुए थे। उन्होंने कानून के अध्ययन से पढ़ाई शुरू की, पर जल्दी ही उनका रुझान साहित्य और दर्शन की तरफ़ हो गया। 26 साल की उम्र तक वे अपना सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ *ट्रीटाइज़ ऑफ़ ह्यूमन नेचर*

लिख चुके थे। आज यह दर्शन की एक महान रचना मानी जाती है, पर शुरू में यह पुस्तक कामयाब नहीं हुई। विद्वानों को भी उनकी बातें जटिल और उलझी हुई लगतीं। ह्यूम को मजबूरन इसका संक्षिप्त भाष्य लिखना पड़ा। 1744 में उनकी रचना *एसेज़, मॉरल ऐंड पॉलिटिकल* का प्रकाशन हुआ जिसके बाद उन्होंने एडिनबरा विश्वविद्यालय में नीतिशास्त्र के प्रोफ़ेसर की नौकरी का आवेदन किया। अपनी नास्तिक छवि के कारण ह्यूम को यह पद नहीं मिल सका। इसके बाद उन्होंने लाइब्रेरियन की नौकरी स्वीकार कर ली जिसमें वेतन तो बहुत कम था, पर उनके पढ़ने के लिए ढेर सारी पुस्तकें उपलब्ध थीं। इस अवसर का लाभ ह्यूम ने ब्रिटेन का इतिहास रचने के लिए किया। छह खण्डों में फैला हुआ महाग्रंथ *द हिस्ट्री ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन* लिखने में उन्होंने पंद्रह साल का समय लगाया। 1754 से 1762 के बीच प्रकाशित हुआ यह इतिहास अत्यंत सफल और लोकप्रिय साबित हुआ। जीवन के आखिरी दौर में ह्यूम ने अपनी आत्मकथा *माई ओन लाइफ़* भी लिखी।

ह्यूम का दर्शन आगे चल कर अज्ञेयवाद के नाम से मशहूर हुआ। उनका दावा था कि मनुष्य की रचना मुख्यतः बुद्धि से न हो कर अनुभूति और संवेदना से हुई है। उनकी विख्यात कृति *ट्रीटाइज़ ऑफ़ ह्यूमन नेचर* का यह कथन दृष्टव्य है : 'बुद्धि को संवेदनाओं का आज्ञापालन करना ही होगा। वह किसी और अधिकारी की सेवा और अनुपालन का दिखावा तक नहीं कर सकती।' दरअसल, यह कह कर ह्यूम उस मान्यता को चुनौती देना चाहते थे जो मनुष्य की नैतिक आस्थाओं को बुद्धि आधारित या बुद्धि द्वारा प्रदर्शनीय मान कर चलती थी। जान लॉक को यह मान्यता प्रिय थी क्योंकि वे राजनीतिक प्राधिकार को स्वीकार करने से पहले उसे बुद्धिसंगत कसौटियों पर कसने का आग्रह करते थे। लॉक से प्रभावित होने के बावजूद ह्यूम का तर्क था कि बुद्धि और संवेदना के बीच कार्य-कारण संबंध ग़लत समझा जाता है। संवेदनाएँ एक ख़ास तरह के बुद्धिसंगत व्यवहार के कारण नहीं होतीं, बल्कि हमारा बुद्धिसंगत व्यवहार हमारी ख़ास तरह की संवेदनाओं के कारण होता है।

ह्यूम के इन विचारों के आधार पर शासन और राजनीति संबंधी दायित्वों की एक विशेष समझ बनती है। सामाजिक समझौता या प्राकृतिक नियम सरीखी किसी अमूर्त अवधारणा से बाँधने के बजाय वे शासन और राजनीति को उन व्यावहारिक मानवीय अनुक्रियाओं पर आधारित करने के पक्षधर हैं जिनका स्रोत मनुष्य की आवश्यकताएँ और कामनाएँ हैं। ह्यूम मान कर चलते हैं कि मनुष्य नैसर्गिक रूप से सामाजिक प्राणी तो है, लेकिन दूसरे के प्रति उसकी परोपकार-भावना एक लिहाज़ से सीमित है। वह पहले अपने और अपने परिवार का हित सोचेगा, फिर दूसरे के हित पर

विचार करेगा। चूँकि वह ऐसा करता है और इस जगत में संसाधन भी सीमित ही हैं, इसीलिए विवादों और टकरावों का जन्म होता है जिन्हें न्यूनतम रखने के लिए मनुष्य ने धीरे-धीरे 'न्याय के नियम' खोज निकाले हैं ताकि स्वामित्वों को सुरक्षित और अनुबंधों को क्रायम रखा जा सके। ये नियम किसी विधिकर्ता द्वारा पहले से सोच कर नहीं बनाये गये हैं, बल्कि इन्हें तो मानवीय विनिमय की प्रक्रिया में स्वतःस्फूर्त ढंग से विकसित किया गया है। न तो ये नियम प्राकृतिक हैं और न ही किसी अमूर्त बुद्धि की देन हैं। सोच और एहसास में मनुष्य कमोबेश एक सा ही है, इसलिए ये नियम भी काफ़ी-कुछ एक से होते हैं। इस विश्लेषण के बाद ह्यूम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पहले मनुष्य की व्यवहार-बुद्धि से ये नियम निकले, फिर उन्हें लागू करने के लिए सरकार का वजूद हुआ। इसका कारण था मनुष्य द्वारा अपने दूरगामी हितों को न समझ पाना, और केवल फ़ौरी हितों पर ज़ोर देते रहना। इसलिए जब मनुष्य ने ठंडे दिमाग से सोचा तो उसे लगा कि अपने सच्चे हित की खातिर एक ऐसे राजनीतिक प्राधिकार को मान लेना चाहिए जो न्याय के नियमों को लागू कर सके।



डेविड ह्यूम (1711-1776)

सरकार और उसके प्राधिकार की मौजूदगी की वजह खोज लेने के बाद ह्यूम उसके उद्गम की ठीक-ठीक परिस्थितियाँ खोजने की चिंता में दुबले नहीं होते। वे कहते हैं कि यह एक बेकार की क़वायद है। यह जान लेना ही काफ़ी है कि सरकार का धीरे-धीरे विकास हुआ है और जिस काम के लिए वह बनी है उसे कामयाबी से अंजाम दे रही है। इन्हीं विचारों के आधार पर ह्यूम ऐसी सरकार को सबसे अच्छा और सबको खुश रखने वाली मानते थे जो समरूप और सामान्य क़ानूनों के आधार पर काम करती हो। हालाँकि उनकी अपनी प्राथमिकता थी ब्रिटिश क्रिस्म की सरकार जिसमें राजशाही और गणराज्य का मिश्रण हो और दोनों एक-दूसरे को संयमित करते रहें, पर सरकार के स्वरूप पर उनका इतना ज़ोर नहीं था। उनकी शर्त केवल यह थी कि सरकार परम्परा, रिवाज़ों और प्राधिकार पर आधारित होनी चाहिए। ह्यूम की मान्यता यह भी थी कि मनुष्य आदतन राजनीतिक होता है और अगर परिस्थितियाँ अनायास प्रभावित न करें तो उसे स्थापित सरकार और प्राधिकार का शांतिपूर्वक अनुपालन करने में कोई मुश्किल नहीं होती।

ह्यूम के आर्थिक विचारों ने क्लासिकी अर्थशास्त्र की बुनियाद डालने की भूमिका निभायी। उन्होंने उन समस्याओं

की ओर ध्यान आकर्षित किया जो आज भी राजनीतिक अर्थशास्त्र के लिए अहम बनी हुई हैं। आज का अर्थशास्त्री भी इस बात पर गौर करता है कि परिचालन के लिए आवश्यक मुद्रा के परिमाण का निर्धारण कैसे किया जाए या मुद्रा का परिमाण कीमतों को कैसे प्रभावित करता है या मुद्रा जब अपना मूल्य खो बैठती है तो कीमत-संरचना के लक्षण कौन से होते हैं। अठारहवीं सदी में ह्यूम ने ही यह पता लगाया था कि माल की तमाम कीमतों में श्रम की कीमत यानी मज़दूर की मज़दूरी सबसे बाद में बढ़ती है। इस केंद्रीय नियम ने उन सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं को समझने में सहायता दी जो क्राज़ी मुद्रा की बाढ़ होने के बाद उभरती हैं।

हालाँकि नास्तिक होने के आरोप में ह्यूम को प्रोफ़ेसरी से वंचित किया गया, पर उन्होंने खुद को बाकायदा नास्तिक कभी घोषित नहीं किया। यह ज़रूर है कि वे धार्मिक विचारों को 'किसी रोगी के स्वप्न' से ज़्यादा अहमियत देने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने भौतिकवाद और भाववाद के बीच कहीं स्थान बनाने का प्रयास किया। मार्क्सवादियों की मान्यता है कि धर्म संबंधी उनकी आलोचना ने एक ओर तो रूढ़िवाद के

खिलाफ़ संघर्ष में महत्वपूर्ण योगदान किया, और दूसरी ओर विज्ञान और धर्म के बीच मेलमिलाप के लिए गुंजाइशें भी छोड़ दीं। ह्यूम के दर्शन को इंद्रियानुभववाद की श्रेणी में भी रखा जाता है। हाल ही तक उन्हें प्रत्यक्षतावाद के तर्क-बुद्धिवादी संस्करण के पुरोगामी के तौर पर भी देखा जाता था। लेकिन, अब कुछ विद्वान उनके विचारों को अर्थवैज्ञानिक (सीमेंटिक) नज़रिये के बजाय ज्ञानमीमांसक दृष्टिकोण से समझने पर ज़ोर देने लगे हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज़्याँ-ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, जोहान गॉटफ्रीड हर्डर, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकिल ओकशाॉट, माइकिल वालज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत।

## संदर्भ

1. ए.वी. एनिकिन (1983), *आर्थिक विज्ञान का युवा काल : मार्क्स-पूर्व का राजनीतिक अर्थशास्त्र*, अनु, गिरीश मिश्र, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. डी. फ़ोर्ब्स (1975), *ह्यूमस फिलॉसॉफ़िकल पॉलिटिक्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. डी. मिलर (1981), *फिलॉसॉफी ऐंड आइडियोलॉजी इन ह्यूमस* पॉलिटिकल थॉट, क्लैरंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. एफ़.जी. व्हेलन (1985), *ऑर्डर ऐंड आर्टीफ़ाइस इन ह्यूमस पॉलिटिकल फिलॉसॉफी*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
5. अर्नेस्ट कैम्पबेल मोसनर (1980), *द लाइफ़ ऑफ़ डेविड ह्यूम*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे